NEHRU BAL PUSTAKALAYA

रेड क्रास की कहानी

कृष्णा सत्यानंद

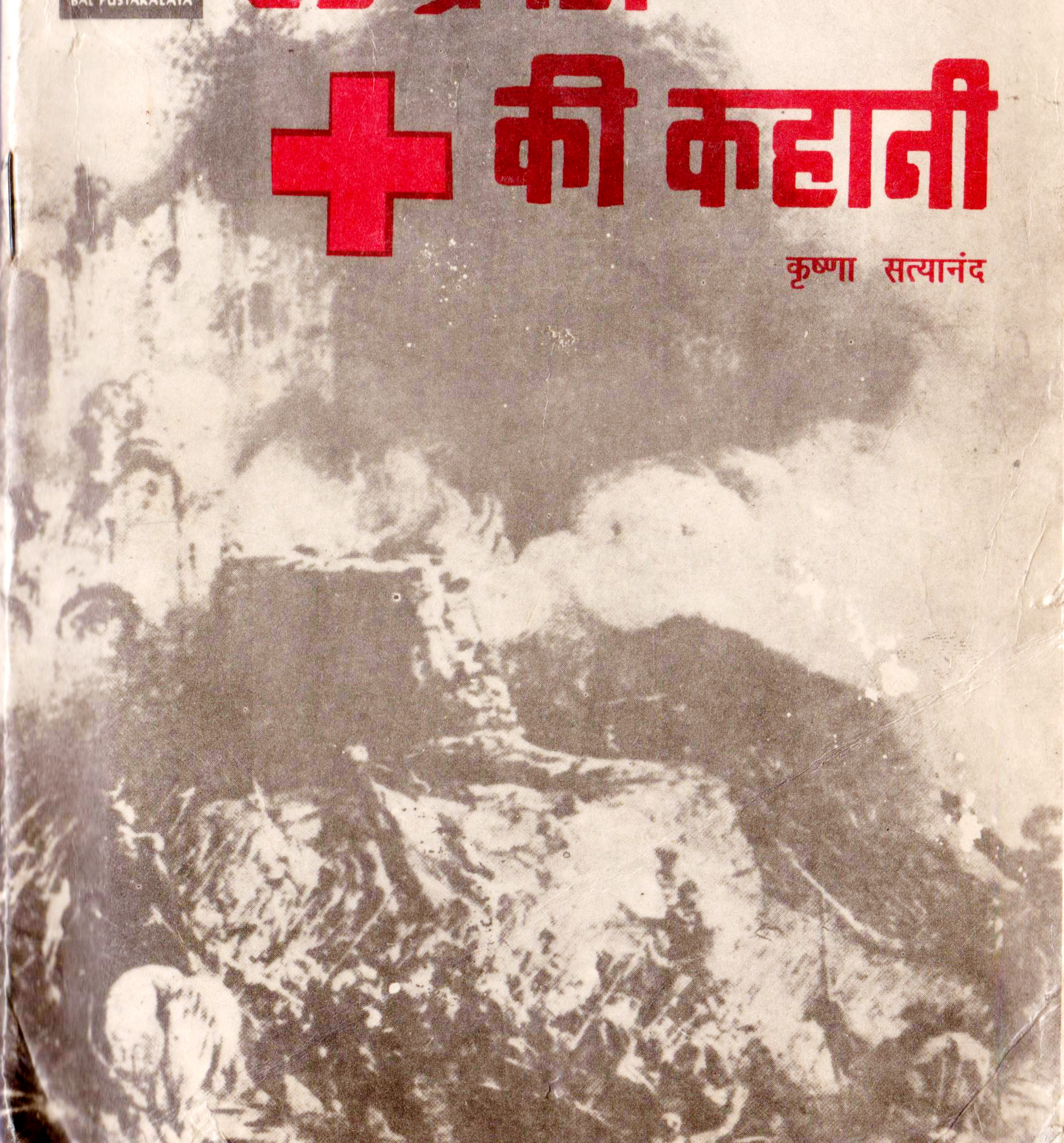

नेहरू बाल पुस्तकालय

रेड क्रास की कहानी

लेखिका
कृष्णा सत्यानंद
चित्रकार
सिद्धार्थ बनर्जी
अनुवादिका
मोहिनी राव

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-0186-1

पहला संस्करण : 1976
सातवीं आवृत्ति : 2001 (शक 1923)
© कृष्णा सत्यानंद, 1975
The Story of Red Cross (*Hindi*)
रु. **10.00**
निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5, ग्रीन पार्क
नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

हेनरी दूनाँ का बचपन

सन् 1831 में, स्विट्जरलैंड के खूबसूरत शहर जिनीवा में, गोलमटोल चेहरे, गुलाबी गालों और रेशमी बालोंवाला तीन वर्ष का एक बालक अपने घर की बैठक में खेल रहा था।

कमरे की सजावट कीमती और बढ़िया थी। उसका पिता एक धनवान व्यापारी था—नगर के प्रमुख नागरिकों में से एक। उसकी माँ अपनी दयाशीलता और नेक कामों के लिए प्रसिद्ध थी। हेनरी की प्रारंभिक शिक्षा उसकी माँ की देख-रेख में हो रही थी।

कड़ाके की ठंड थी उस दिन। लोग सर से पैर तक शरीर को गरम कपड़ों से ढके घूम रहे थे। केवल उनकी नाकों के गुलाबी सिरे ही नजर आते थे।

बालक, जिसका पूरा नाम जान हेनरी दूनाँ था, कभी अपने खिलौने से बात करता, अभी अपने आप से। वह खेलने में मगन था कि उसकी माँ बाहर जाने के कपड़े पहने हुए और हाथ में टोकरी लिए हुए आयी। अपने खिलौने भूलकर हेनेरी माँ की ओर दौड़ा और उसके घाघरे को पकड़कर बोला, "कहाँ जा रही हो, माँ ?"

"अनाथालय को," माँ ने जवाब दिया।

"अनाथालय ?"

"हाँ," माँ ने कहा, "शहरवाला अनाथालय।"

बाहर जाने की उत्सुकता से हेनरी ने मचलकर कहा, "मैं भी चलूंगा।"

"नहीं बेटा," माँ ने स्नेह से कहा, "बड़ी ठंड है आज। तुम यहीं घर में खेलो। मैं जल्दी ही वापस आकर तुम्हें कहानियाँ सुनाऊंगी।"

वह चुपचाप बाहर चली गयी। हेनरी कुछ देर तक तो सिसकता रहा, दरवाजे पर जाकर अनमना-सा खड़ा हो गया। उसकी आँखों में अब भी आँसू चमक रहे थे। उसकी माँ अभी-अभी गाड़ी में बैठी थी। कोचवान ने लगाम खींची और घोड़े दौड़ने लगे।

हेनरी खिड़की पर खड़ा रहा—कभी बाहर झांकता और कभी शीशे पर जमी बर्फ पर उँगली से लकीरें बनाता। कुछ ही देर में उसका जी ऊब गया और वह फिर खिलौनों से खेलने लगा। उसको एक टोकरी मिल गयी। उसे उठाकर वह कमरे में चक्कर लगाने लगा और कल्पना करने लगा कि वह अनाथालय जा रहा है।

हेनेरी जब कुछ बड़ा हुआ तो एक दिन उसने माँ से पूछा, "अनाथालय क्या होता है, माँ ?"

"जिन बच्चों के माँ-बाप नहीं होते, अनाथालय उनका घर होता है," माँ ने उदास स्वर में जवाब दिया।

हेनरी को विश्वास नहीं हुआ। आश्चर्य से आँखें फाड़ कर उसने पूछा, "ऐसे भी बच्चे होते हैं ?"

"हाँ," माँ ने गंभीरता से उत्तर दिया। "कुछ बच्चों के माँ-बाप, वे बहुत छोटे होते हैं तभी मर जाते हैं। भगवान उन्हें उठा लेता है और उनके बच्चों की देखभाल करनेवाला कोई नहीं होता। इन बच्चों को एक घर में रखा जाता है और दयालू लोग इनकी देखभाल करते हैं। वे इन्हें खाना, कपड़े और

सोने के लिए बिस्तरे देते हैं। वे बीमार पड़ जाते हैं तो उनका इलाज करवाते हैं, उनकी देखभाल करते हैं।"

हेनरी के घर में अनाथालयों की, जेलों की तथा अस्पतालों की दशा सुधारने के बारे में अक्सर चर्चा होती रहती थी। हेनरी बड़ा होने लगा तो उसकी समझ में आया कि जिनीवा के लोग अपने कर्त्तव्यों को निभाने की पूरी कोशिश करते हैं और हमेशा यही सोचते रहते हैं कि किन तरीकों से उन लोगों की मदद की जाय जो उनकी तरह भाग्यशाली नहीं हैं। वे हमेशा रुपए-पैसे से गरीबों की मदद करने को तत्पर रहते थे। हेनरी के माँ-बाप भी इन कर्त्तव्यों के प्रति सजग थे। उसके पिता बैंकर थे लेकिन अनाथालयों की स्थापना में पूरी मदद करते थे। उसकी माँ अक्सर गरीबों, बीमारों और बूढ़ों के घरों में जाती थी और उनके लिए खाने की चीजों से भरी टोकरी या कपड़े ले जाया करती थी। हेनरी कुछ और बड़ा हुआ तो वह भी माँ के साथ जाने लगा। वह देखता था कि उसकी माँ सबकी आँख बचाकर कुछ पैसे या टोकरी चुपचाप किसी मेज पर रखकर चली आया करती है। हेनरी के मन में इसकी याद बनी रही और उम्र के साथ उसकी यह भावना भी बढ़ती गयी कि एक जिम्मेदार स्विस नागरिक की हैसियत से गरीबों और असहायों की मदद करना उसका पहला कर्त्तव्य है।

जब हेनरी आठ वर्ष का था तो एक बार वह अपने माँ-बाप के साथ फ़्रांस के दक्षिण में समुद्र के किनारे बसे नगर टुलोन गया। यहाँ जहाज़ पर से माल उतारने और लादने के लिए जिनीवा से कैदी भेजे जाते थे।

कैदियों की देखभाल की जिम्मेदारी हेनरी के पिता पर थी। पैरों में बेड़ियाँ बाँधे कैदियों को जहाज से बोझ उतारते देखकर तो हेनरी का हृदय काँप उठा। उसने सोचा कि लोग कितने अमानुषिक और क्रूर हैं। उस रात वह सो न सका। सारी रात उसे बेड़ियों की खनखनाहट सुनायी देती रही और वह बिस्तर पर पड़ा बेचैनी से करवटें बदलता रहा। उसने उसी समय मन ही मन शपथ खायी कि जब वह बड़ा हो जायेगा तो कैदियों की सहायता करने की भरसक कोशिश

करेगा।

हेनरी को पढ़ने का बहुत शौक था। वह ढेरों किताबें पढ़ा करता था। उसने फ्लारेंस नाइटिंगेल के बारे में पढ़ा जिसने क्रीमिया की लड़ाई में ब्रिटिश सैनिकों के लिए नर्सिंग की सुविधाओं में सुधार करने के लिए बड़ा परिश्रम किया था। हेनरी ने एलिज़बेथ फ्राई के बारे में भी पढ़ा जिसने यूरोप में कैदियों की दशा सुधारने के लिए बहुत काम किया था। उसने अमरीकी लेखिका हेरियट बीचर स्टो का लिखा उपन्यास 'अकंल टाम्स केबिन' पढ़ा जिसकी उन दिनों बहुत चर्चा थी। अमरीका में गुलामी की प्रथा को दूर करने में इस उपन्यास का भी बड़ा हाथ था। इन तीनों महिलाओं के काम ने हेनरी को बहुत प्रेरित किया था।

युवक दूनाँ ने अपना बहुत-सा समय समाज सेवा में लगाया। वह 'लीग आॅव आम्स' नामक एक संस्था का सदस्य था, जो गरीबों और रोगियों की सहायता करती थी। हेनरी बराबर खाने की चीजें और कपड़े लेकर शहर के जेलखाने को जाया करता था। वह कैदियों से बातचीत करता और उन्हें समझाने की कोशिश करता कि कानून को तोड़ना नहीं चाहिए।

इन दिलचस्पियों के अलावा दूनाँ अपने व्यापार के कामों में लगा रहता था। 1849 में बैंकिंग का काम सीखने के लिए वह जिनीवा के एक बैंक में काम करने लगा। उसने इतनी जल्दी काम सीख लिया कि चार साल बाद ही उसे अल्जीरिया में बैंक की एक शाखा का जनरल मैनेजर बना दिया गया। कुछ दिनों बाद उसने अपना धंधा करने के उद्देश्य से बैंक की नौकरी छोड़ दी।

दूनाँ होशियार भी था और मेहनती भी। व्यापार में सफलता के लिए उसकी तैयारी पूरी थी। उसके परिवार के लोगों ने और मित्रों ने पूरे विश्वास के साथ भविष्यवाणी की थी कि वह शीघ्र ही बहुत धनी हो जायेगा। उसके ऊपर विश्वास करके उसके पिता के कई मित्रों ने उसके व्यापार में पूंजी लगायी।

सोलफ़रीनो का युद्ध

काम के सिलसले में दूनाँ को दूर-दूर की यात्रा करनी पड़ती थी। जून 1859 में व्यापार का ऐसा ही कोई काम उसे इटली के लोम्बार्डी क्षेत्र में ले गया। वह वहाँ काम और विश्राम दोनों के इरादे से गया था। फ्रांस के बादशाह नैपोलियन तृतीय ने सार्डीनिया के राजा की मदद से आस्ट्रिया से युद्ध छेड रखा था। दूनाँ नैपोलियन से मिलकर व्यापार की एक योजना पर उसकी अनुमति लेने की आशा से गया था।

बड़ी खूबसूरत रात थी। उत्तरी इटली के एक नगर कास्टिलिओने द ला पिएवा की एक सराय में दूनाँ गहरी नींद सो रहा था। अचानक दो बजे रात को बंदूक के दगने की आवाज़ से उसकी नींद उचट गयी। आवाज पास के एक छोटे से गाँव सोलफ़रीनो से आ रही थी जिसकी आबादी हज़ार से भी कम थी।

बंदूकों की आवाज़ बढ़ती गयी। सोलफ़रीनो का युद्ध आरंभ हो गया था। दूनाँ समझ गया की फ्रांस के राजा से भेंट करने की अब कोई आशा नहीं है। वह पलंग पर से नीचे कूद पड़ा, जल्दी-जल्दी कपड़े पहने और शहर से बाहर सोलफ़रीनो की ओर चल पड़ा। वह एक खास पहाड़ी पर पहुँचना चाहता था

जहाँ से लड़ाई अच्छी तरह देखी जा सकती थी, लेकिन रास्ते में पुल को उड़ा दिया गया था। दूनाँ जरा देर तो दुविधा में रहा फिर उसने पैदल ही छोटी नदी को पार किया ओर उस ओर पहुँच गया। दूसरी ओर उसको एक पुरानी गाड़ी मिल गयी जिसने उसे पहाड़ी पर पहुँचा दिया।

पहाड़ी से लड़ाई साफ नज़र आती थी। नीचे मैदान में, दस मील लंबे क्षेत्र में, करीब 3,00,000 आदमी आमने-सामने खड़े थे। एक ओर अपनी रंगीन वर्दियों में फ्रांसीसी और स्कैंडिनेविया की सेनाएँ थीं, दूसरी ओर आस्ट्रिया की। दूनाँ वहाँ घंटों खड़ा तन्मय होकर देखता रहा। सवेरा हुआ। भालों पर सूरज की किरणें पड़ीं तो वे चमक उठे, नगाड़े और तुरही बज उठे, बंदूकें दग उठीं।

सारे दृश्य में जान पड़ गयी। दौड़ते हुए घोड़े और रौंदते हुए पैर धूल के बादल उड़ाने लगे। गोला-बारूद के फटने से निकले धुएं का एक मोटा पर्दा-सा बन गया। लेकिन जब आसमान में सूरज चढ़ने लगा तो दूनाँ को जब-तब नीचे होते युद्ध की झलक भी मिलने लगी।

विरोधी सेनाएं जंगली जानवरों की तरह एक-दूसरे पर टूट पड़ीं। हथगोले और बम के गोले तेजी से उड़ रहे थे। जो इनसे बच निकलते थे वे या बंदूक की गोली से मारे जाते थे या संगीनों से या फिर घोड़ों के पैरों या तोपगाड़ी के नीचे रौंदे जा रहे थे। सिर्फ एक आदमी था जो बिलकुल निडर लड़ाई के मैदान में घूम-फिर रहा था और घायलों को ढाढ़स बांध रहा था। यह ऐबे लेन था, नैपोलियन तृतीय का पादरी। कुछ औरतें भी थीं। जब घायल सैनिक प्यास से तड़पकर कराहते तो वे उन्हें पानी पिलातीं।

जिस जगह दूनाँ खड़ा था वहाँ से दूर पर काले झंडे फहराते हुए दिखायी पड़ रहे थे। ये झंडे वहाँ लगे थे जहाँ युद्ध क्षेत्र के अस्पताल थे, जहाँ घायल सैनिकों को ले जाकर उनका प्राथमिक उपचार किया जाता था। यद्यपि यह मानी हुई बात थी कि अस्पतालों पर बम नही गिराये जायेंगे, पर अक्सर उन पर बम गिरते थे। एंब्युलेंस गाड़ियां और डाक्टर तक उनसे नहीं बचे थे।

लड़ाई पंद्रह घंटों तक चली। फिर आकाश में बादल घिर आये। गोलों के फटने की और घायलों तथा मरते हुए लोगों की चीखों के ऊपर बादलों की गरज सुनायी दे रही थी, बिजली ऐसे चमक रही थी मानों आकाश को फाड़ कर रख देगी। ऐसा भयंकर तूफ़ान आया जैसा शायद पहले कभी नहीं आया था। लड़ाई थम गयी। आस्ट्रिया की सेना पीछे हट गयी। सोलफ़रीनो की लड़ाई खत्म हो गयी।

जब अंधेरा होने लगा तो बहुत से अफसर और सैनिक मृतकों में अपने खोये हुए बंधुओं और साथियों को खोजने लगे। अपने साथ वे मशालें लिये हुए थे ताकि उन्हें पहचानने में मदद मिले। जब कोई पहचाना चेहरा दिखता तो वे घुटने टेक देते, आँसू बहाते और प्रार्थना करते। घायल मित्रों को अस्पताल ले जाया जाता।

रात होते-होते कस्टिलियोने के चारों ओर की पहाड़ियां जगह-जगह जलती हुई आग से चमक उठीं। सैनिकों ने अपने लिए काफी बनायी, थकान से चूर तो थे ही, वे लेट गये और गहरी नींद में सो गये।

सफेद कपड़ोंवाले सज्जन

अगले दिन जब सूरज निकला तो एक भयानक दृश्य देखने में आया। घोड़ों और आदमियों की लाशों से धरती अटी पड़ी थी। खेत तहस-नहस हो गये थे, बाग-बगीचे बर्बाद हो गये थे, बेड़े टूट गये थे, फार्म की चारदीवारी में बड़े-बड़े छेद बने हुए थे। टोप, कमरपेटियाँ, डिब्बे, टिन, झोले, बंदूकें, गोलियाँ, लड़ाई के मैदान में और सोलफ़रीनो जानेवाली सड़क पर बिखरे पड़े थे।

लड़ाई में जान-माल की भारी हानि हुई थी। पंद्रह घंटों की लड़ाई में 50,000 सिपाही, जिनमें 10,000 से अधिक अफसर थे, मारे गये थे। हजारों घायल हो गये थे, लूले-लंगड़े होकर मौत के मुंह में पड़े तड़प रहे थे।

सेना के क्वार्टर मास्टर और उसके सहायकों ने घायलों को स्ट्रेचरों या कुर्सियों पर लादा, खच्चरों पर जीन कसे और उन्हें लाद कर क्षेत्रीय अस्पतालों में ले गये। हर एक गिरजाघर, कान्वेंट, घर, चौक, सड़क और गली को अस्थायी अस्पताल का रूप दे दिया गया था।

फिर भी गाड़ियों का काफिला चला आ रहा था। स्थिति वहां के अधिकारियों से संभाले नहीं संभल रही थी। घायलों के लिए अब और बिस्तरे

नहीं थे। यों तो लोगों ने बड़ी उदारता से दिया था—पैसे, भोजन, पट्टियाँ आदि काफी थे, लेकिन उनको बाँटने के लिए या घायलों को पट्टियाँ बाँधने के लिए काफ़ी लोग नहीं थे। अधिकतर फ़ौजी डाक्टर पास के एक नगर कास्त्रिआना में थे। डाक्टरों के अर्दली भी बहुत कम थे। हर तरफ़ अव्यवस्था थी और घायल लोग दर्द से चीख रहे थे।

पहले तो दूनाँ असहाय-सा खड़ा यह दृश्य देखता रहा। लेकिन शीघ्र ही उसको बड़ा धक्का-सा पहुँचा और वह क्रोध से भर उठा। उसने अपने मन में कहा, घायलों को इस प्रकार मरने के लिए तो नहीं छोड़ा जा सकता। कुछ न कुछ तो करना ही होगा। स्वयंसेवकों का इंतज़ाम फौरन करना होगा।

दूनाँ जानता था कि आस-पास के अस्पताल भरे पड़े हैं और उनसे किसी प्रकार की सहायता की आशा नहीं की जा सकती। उसने जितने भी गैरफौजी डाक्टर और स्वयंसेवक मिल सकते थे, उनको इकट्ठा किया और उन्हें कास्टिलिओने के गिरजाघर में काम करने के लिए ले गया। प्यासों की प्यास बुझाने के लिए फव्वारों और फार्मों से पानी लाया गया। फर्श को झाड़ू लगाकर धोया गया। छोटे-छोटे लड़के घर-घर जाकर शोरबा माँग कर ले आये। औरतें साबुन, तौलिए, चादरें और स्पंज आदि ले आयीं। दूनाँ ने अपने कोचवान को भेजकर पड़ोस के शहर ब्रेखिया से तबाकू, नींबू और नारंगियाँ मंगवायीं। घावों को धोकर व साफ करके उन पर पट्टियां बाँधी गयीं। पाइपों में तंबाकू भरी गयी और नींबू के शर्बत से भरे गिलास सबको बांटे गये। घंटों दूनाँ काम में लगा रहा। उसका गर्मी का सफेद सूट खून के छींटों से भर उठा, दर्दभरी चीखें उसके कानों में गूंजती रहीं। शीघ्र ही सारे घायलों को पुआल के बिछौनों पर कतारों में लिटा दिया गया। अब मोमबत्ती की रोशनी के सहारे डाक्टर आसानी से उनके बीच चल-फिर सकते थे। घायलों की कतारों के बीच में चलता दूनाँ उन्हें पानी पिलाता और दिलासा देता। वह पाइप साफ करता, घावों को साफ करता और पट्टियाँ बाँधता। सिपाहियों ने उसका नाम रख दिया 'सफेद कपड़ोंवाले सज्जन'

इसी बीच और स्वयंसेवक आ पहुँचे। नौसेना का एक भूतपूर्व अधिकारी और दो अंग्रेज पर्यटकों को, जो चर्च को देखने के कौतूहल से वहाँ पहुँच गये थे, आग्रह करके सहायता के लिए वहीं रोक लिया गया। एक स्विस व्यापारी वहाँ दो दिन के लिए आया और उसने अपना सारा समय घायलों की ओर से उनके परिवारों को पत्र लिखने में लगा दिया। अधिकतर स्वयंसेविकाएं प्रशिक्षित नहीं थीं, लेकिन उनकी सहानुभूति, नम्रता और मृदु व्यवहार ने पीड़ित लोगों को बहुत हिम्मत दी। लेकिन वे केवल फ्रांसीसी और सार्डिनियाई सिपाहियों की सेवा करती थीं जिन्हें वे अपना मित्र समझती थीं। घायल आस्ट्रियाई

सिपाहियों को दर्द से कराहते-तड़पते छोड़ देती थीं। दूनाँ हर घायल को मनुष्य के रूप में देखता था, मित्र या शत्रु के रूप में नहीं, और इसलिए वह सबकी सेवा कर रहा था।

वह एक आस्ट्रियाई सैनिक से साँत्वना के दो शब्द कहने के लिए झुका तो एक किसान स्त्री चिल्लायी "यह तो दुश्मन है।" दूनाँ ने सीधे खड़े होकर अपना एक हाथ स्त्री के कंधों पर रखा और उसकी आँखों में देखकर बोला, "दुश्मन भी मनुष्य है।"

जिस ढंग से दूनाँ ने यह कहा उससे वह स्त्री और दूसरे स्वयं-सेवक बहुत प्रभावित हुए। दूनाँ जैसा करता था वे भी वैसा ही करने लगे। आस्ट्रियाई सैनिकों को भी पानी पिलाया जाने लगा, उनके माथों पर गीली ठंडी पट्टियाँ

रखी जाने लगीं। एक स्त्री ने जोर से कहा, "टूटी फ़ाटेली। टूटी फ़ाटेली। ये सब भाई हैं।" सब ने मिलकर यह नारा लगाया। और यह संदेश सारे गिरजाघर में गूंजने लगा।

कुछ समय बाद स्वयंसेवकों का उत्साह ठंडा पड़ने लगा। एक के बाद एक, वे जाने लगे क्योंकि घायलों का कष्ट उनसे देखा नहीं जा रहा था। इसके अलावा घर में भी उनकी जरूरत थी और कुछ घायलों को तो ठीक होने में अभी बहुत समय लगनेवाला था।

जैसे दिन गुजते गये, बहुत से घायल सैनिक मर गये। दूसरों को बड़े शहरों और अस्पतालों में पहुँचा दिया गया। दूनाँ ने अपील की कि शत्रुपक्ष के डाक्टरों को, जो बंदी बना लिये गये थे, निष्पक्ष मान कर छोड़ दिया जाय। नैपोलियन इस बात पर राजी हो गया, और आस्ट्रियाई सैनिकों को उनके अपने डाक्टर मिल गये। यद्यपि गाड़ियों में भर-भर कर नये घायल सैनिक आ रहे थे, धीरे-धीरे व्यवस्था फिर से कायम हो गयी थी और शहर की नागरिक सेवाएं सुचारु रूप से काम करने लगी थीं। शीघ्र ही दूनाँ जिनीवा वापस जाने की योजना बना सका।

दूनाँ इटली की यात्रा से लौटा तो बिल्कुल बदल गया था। कास्टिलिओने रात-दिन उसकी आँखों के आगे नाचते रहते थे। अब तो उसका अपना काम भी महत्वपूर्ण नहीं लगता था और उसमें उसकी दिलचस्पी कम होने लगी।

अल्जीरिया को जो हवाई चक्की वह निर्यात करना चाहता था और जिसके लिए नेपोलियन की अनुमति लेने वह आस्ट्रिया गया था, उसके बारे में भूल गया। उसके व्यापार में रुपया लगाकर उसके पिता के मित्रों ने उसके प्रति जो विश्वास दिखाया था, वह उसे भी भूल गया। वह विचारों में खोया रहता था। जो भयानक पीड़ा और यंत्रणा वह अपनी आँखों से देख आया था, उसे भला वह कैसे भूल सकता था? उसे विश्वास था कि यदि उसके पास उसकी मदद करने के लिए सौ प्रशिक्षित और अनुभवी अर्दली और नर्स होते तो कास्टिलिओने की वह स्थिति इतनी दुखपूर्ण न होती। घायलों की देखभाल करने के लिए संगठित एक बड़े दल का वे केंद्रीय भाग हो सकते थे। इस प्रकार तो बहुत-सा जोश और मेहनत बेकार हो गयी। बहुत से लोग बड़ी सद्भावना से घायलों के लिए भोजन लेकर आये थे, लेकिन क्योंकि वह उनके लिए उपयुक्त नहीं था, उसे लौटा देना

पड़ा। यदि उन्हें पहले से ही बता दिया गया होता, आदेश दे दिये गये होते तो उनके सारे उत्साह और सद्भावना का अधिक उपयोग किया जा सकता था। कई जानें बचायी जा सकती थीं। यदि डाक्टरों को बंदी न बनाया जाता और क्षेत्रीय अस्पतालों की रक्षा की जाती तो चिकित्सा ज्यादा आसानी से हो सकती थी।

दिन-रात वह यही सब सोचता रहता। उसके मन में एक योजना बनने लगी। उसने निश्चय किया कि इस योजना को पुस्तक के रूप में छपवायेगा ताकि यूरोप के विचारशील लोगों का ध्यान उसकी ओर जाय।

नये विचारों के अन्य प्रवर्तकों ने भी अपने विचारों का प्रचार करने के लिए किताबें लिखी थीं और सफलता पायी थी। वह भी यही करेगा। उसकी पुस्तक "सूविनिर ऑव सोलफ़रीनो" (सोलफ़रीनो की स्मारिका) सलफ़रीनों के युद्ध का और उसके बाद के कष्ट और दुख का वर्णन था। उसमें ऐसी दुखद स्थिति को, जैसी दूनाँ ने स्वयं देखी थी, दूर करने के लिए कुछ प्रस्ताव भी रखे गये थे। दूनाँ ने सुझाव दिया था कि ऐच्छिक सहायता समितियाँ सब देशों में बनायी जायें। जब कभी भी युद्ध हो तो युद्ध पीड़ितों की सहायता के लिए ये काम करें। ये समितियाँ जाति, रंग, वर्ग या धर्म किसी भी प्रकार का भेदभाव न करें। उसने अपील की थी कि घायलों की रक्षा के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय समझौता किया जाय।

"सूविनिर ऑव सोलफ़रीनो" फ़्रांसीसी भाषा में लिखी गयी थी। उसे पूरा करने में पूरे बारह महीने लगे और वह 1862 में प्रकाशित हुई। यह पुस्तक युद्ध की अमानुषिकता के खिलाफ आवेश से भरी अपील थी। यह आज भी युद्ध के सबसे सजीव और हृदयस्पर्शी वर्णनों में से एक है।

जैसे ही किताब छपकर आयी दूनाँ सारे यूरोप में उसका अथक प्रचार करने लगा। यूरोप के हर एक शहर में उसकी सैकड़ों प्रतियाँ बाँटीं। कितना खर्चा हो रहा है, इसकी उसको बिल्कुल चिंता नहीं थी। व्यापार की ओर भी

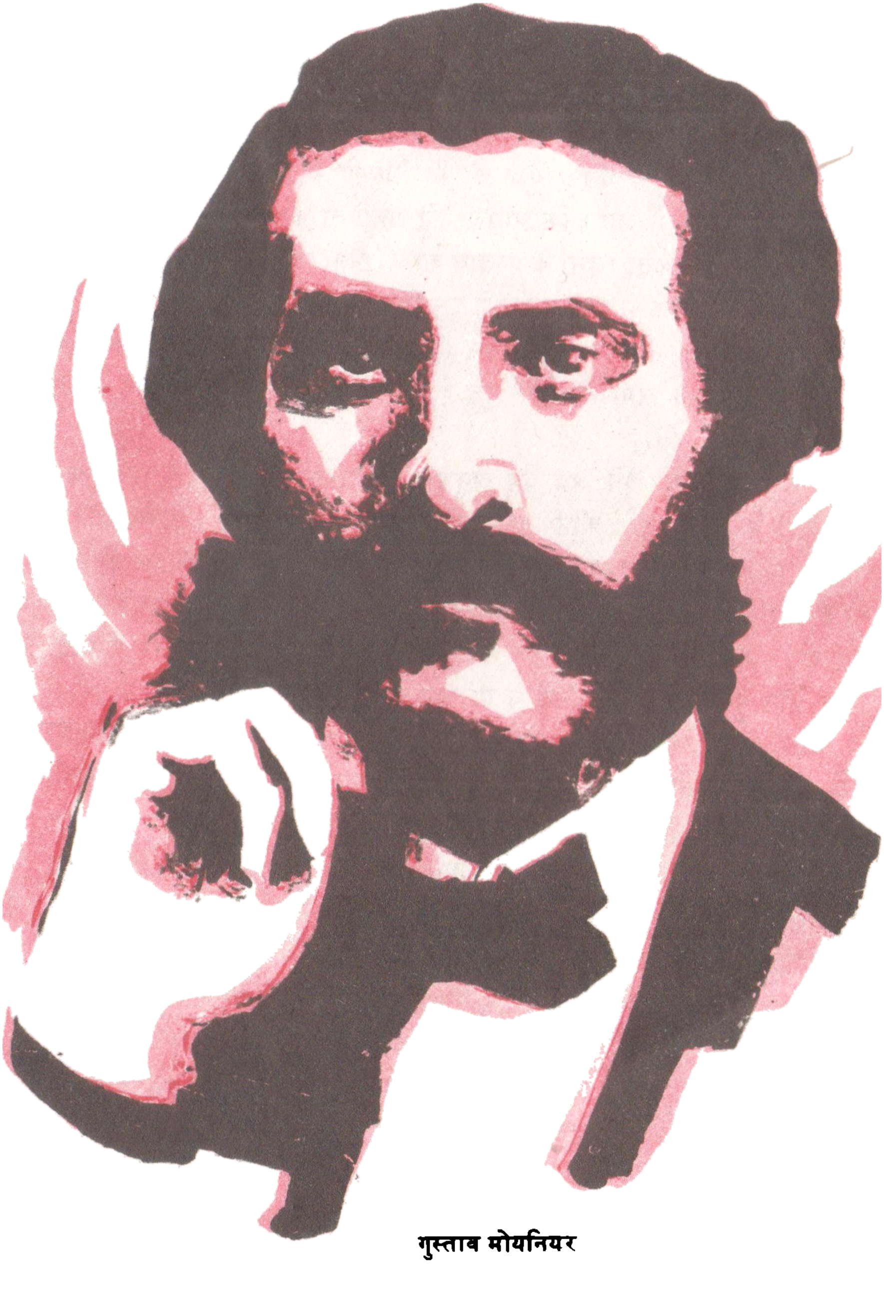

गुस्ताव मोयनियर

ध्यान नहीं देता था। उसका महान उद्देश्य ही उसे आगे बढ़ा रहा था।

"सूविनिर ऑव सोलफ़रीनो" एक हृदयस्पर्शी और सशक्त दस्तावेज था। जिन्होंने उसको पढ़ा वे सिर्फ युद्ध की विभीषिका से ही परिचित नहीं हुए, उन्हें यह भी समझ में आया कि घायलों की सहायता के लिए मुट्ठी भर लोगों से काम नहीं चल सकता। दूनाँ के प्रस्ताव का जोर-शोर से स्वागत किया गया।

1860 के दशक में सारे यूरोप में इन विचारों का प्रभाव पड़ रहा था और मानवता के प्रति एक नया विचार बन रहा था। लोगों को दूसरों के कष्ट के प्रति चिंता भी होने लगी थी और युद्ध के भयानक परिणामों के प्रति वे सजग हो गये थे।

राष्ट्रों के प्रमुख भी अब यह अनुभव करने लगे थे कि आदमियों, धन और कष्ट के रूप में युद्ध की कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। सोलफ़रीनो में पंद्रह घंटों में पचास हज़ार आदमियों के मारे जाने से ही यह साबित हो गया था कि आधुनिक अस्त्र-शस्त्र कितनी बड़ी हानि पहुँचा सकते थे। नेपोलियन के युद्ध दस वर्ष चले थे, क्रीमिया की लड़ाई तीन वर्ष। हर एक परिवार में पति, पिता और पुत्र या तो मारे गये थे या घायल हो गये थे।

इसी कारण लगभग प्रत्येक व्यक्ति ने दूनाँ के प्रस्तावों का समर्थन किया। एक प्रसिद्ध वकील और परोपकारी व्यक्ति गुस्ताव मोयनियर उन लोगों में से एक था जिन्हें दूनाँ के विचारों ने बहुत ही प्रभावित किया था। मुख्यतः उनके ही कारण दूनाँ के स्वप्न साकार होने लगे। मोयनियर 'जिनीवा रिपब्लिक वेलफेयर सोसायटी' का अध्यक्ष ही नहीं था, उसका समाज में दबदबा भी बहुत था और संगठन करने में तो वह बहुत ही कुशल था।

1863 में 'जिनीवा वेलफेयर सोसायटी' की सभा हुई जिसमें दूनाँ के सुझावों पर विस्तार से चर्चा हुई। जिस प्रकार के सहायता-समाजों का उसने प्रस्ताव किया था उनका संगठन करने के लिए तुरंत एक समिति नियुक्त की गयी। समिति के अध्यक्ष चुने गये स्विस सेना के आदरणीय कमांडर जनरल

जनरल ग्विलोमे दुकोर

डा० लुई आपिया

डा० थियोडोर मोनायर

विलोमे दुफोर। दो सदस्य लुई आपिया और थिओडोर मोनायर डाक्टर थे। चौथा सदस्य था स्वयं मोयनियर, और पाँचवाँ दूनाँ, जिसने सचिव के रूप में काम किया

समिति ने दूनाँ के प्रस्तावों पर विचार करने के लिए आयोजित की जाने-वाली महासभा में सारे यूरोपीय देशों की सरकारों को अपना प्रतिनिधि भेजने के लिए आमंत्रित किया। एक छोटे से देश के पाँच व्यक्तियों के लिए यह एक बहुत ही साहसपूर्ण कदम था। फिर भी 14 देशों ने 36 प्रतिनिधि महासभा में भेजे जो 26 अक्तूबर, 1863 को हुई थी।

सभा से पहले, आठ महीने तक, दूनाँ ने लोगों का समर्थन पाने और उन्हें सभा में निमंत्रित करने के लिए यूरोप की सारी बड़ी राजधानियों की यात्रा की। जैसे अंतर्राष्ट्रीय समझौते का दूनाँ प्रयत्न कर रहा था वैसा आज तक कभी नहीं हुआ था। समिति के दूसरे सदस्य प्रस्तावों और सिफारिशों की रूपरेखा तैयार करने में लगे थे।

दूसरी सभा 8 अगस्त, 1864 को हुई। पंद्रह यूरोपीय देशों ने अपने प्रतिनिधि सभा में भेजे। दो दिन तक खूब बहस करने के बाद प्रथम जिनोवा सम्मेलन के निर्णयों का मसौदा तैयार किया गया। उसमें दस प्रमुख बातों का उल्लेख था। उसमें सबसे मुख्य बात यह थी कि जिन देशों की सरकारों ने इस समझौते पर हस्ताक्षर किये हैं वे, युद्ध के समय, घायलों और बीमारों की देखभाल करने के जिम्मेदार होंगे। घायलों की देखभाल करनेवालों की हर तरह रक्षा की जायेगी। अस्पतालों, अस्पतालों के उपकरणों और रोगी-गाड़ियों पर हमला नहीं किया जायेगा। जब संभव होगा तब कैदियों की अदला-बदली होगी। यानी शत्रुपक्ष के कैदियों को बंदी नहीं रखा जायेगा। सफेद जमीन पर लाल रंग के क्रास को तटस्थता के चिह्न रूप में स्वीकार करने का फैसला भी किया गया। लोग इस पर सहमत थे कि यह चिह्न आसानी से पहचाना जा सकेगा और डाक्टरों और नर्सों को लड़ाई के मैदान में घायल तक पहुँचाने में मदद देगा।

लाल क्रास को धारण करनेवाला पहला व्यक्ति था लुई आपिया। पाँच सदस्यों की समिति में जो दो डाक्टर थे उनमें से एक था।

सभा में सब देशों से स्वयंसेवकों का ऐसा दल तैयार करने को कहा गया जो युद्ध के समय घायलों और बीमारों की सेवा करें। आज जिस रेड क्रास सोसायटी को हम जानते-पहचानते हैं, ये स्वयंसेवक दल उसके अगुआ थे।

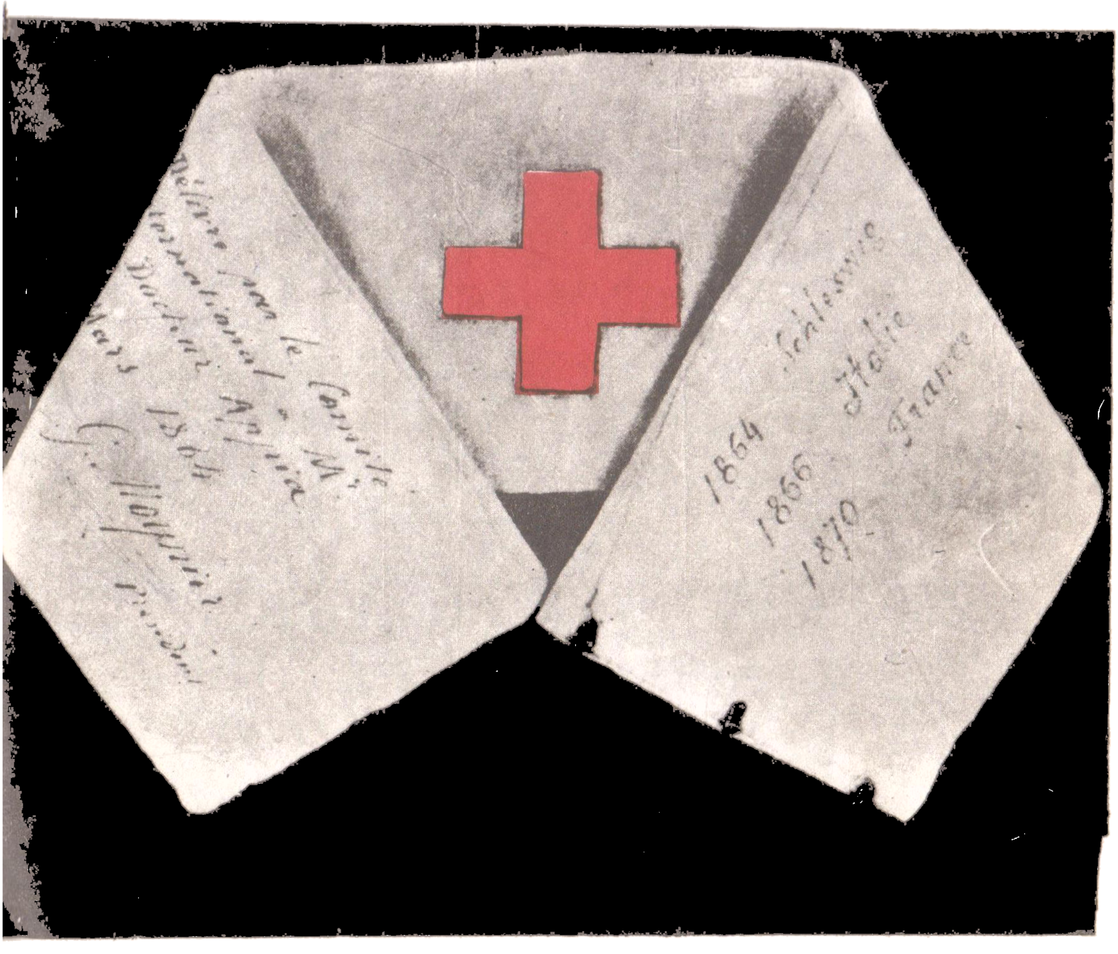

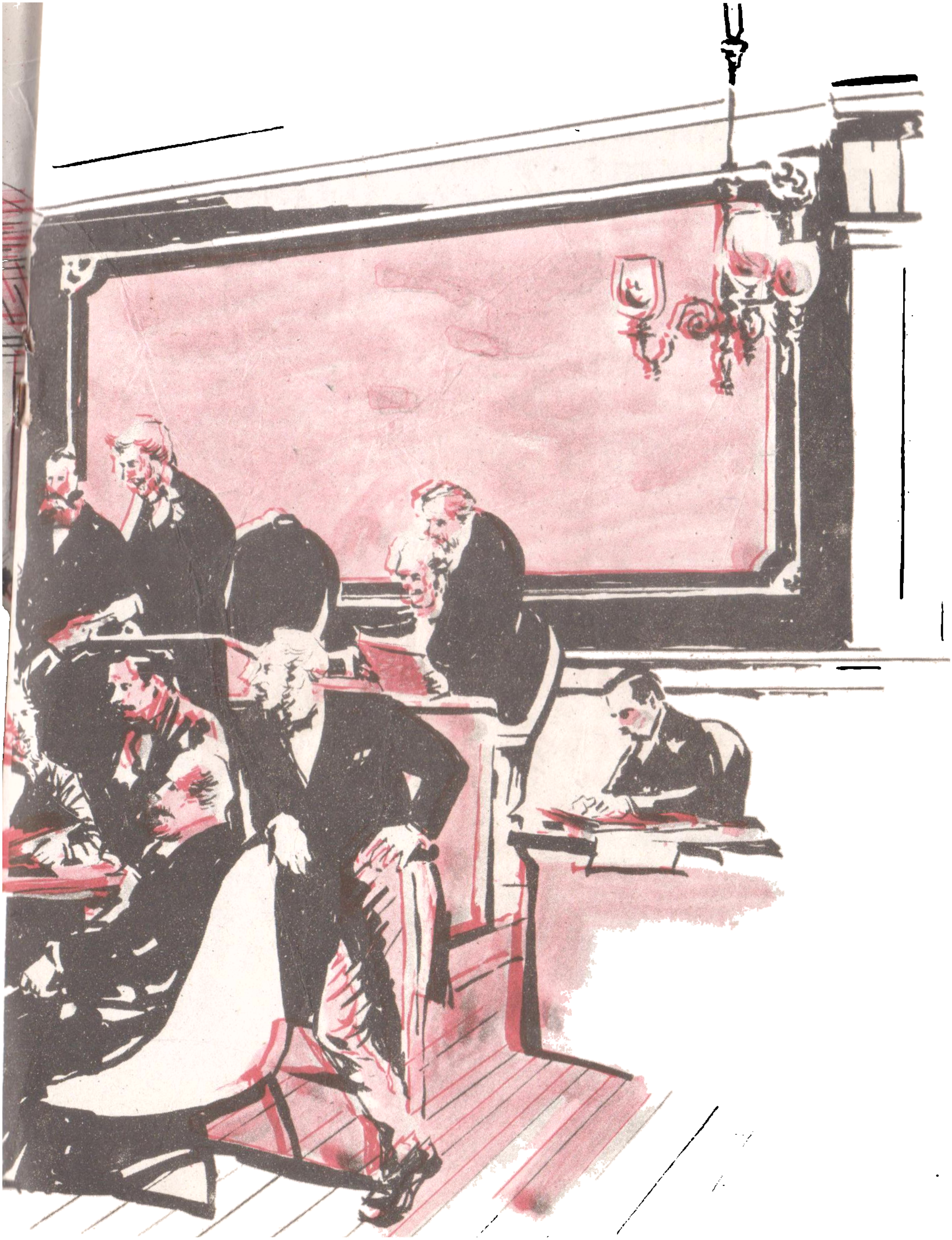

22 अगस्त, 1864 को पन्द्रह देशों के प्रतिनिधियों ने इस समझौते पर हस्ताक्षर किये। यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य था। क्योंकि इस दिन से न तो किसी युद्ध में कोई सैनिक इलाज के बिना मरा और न ही कोई युद्धबन्दी मारा गया।

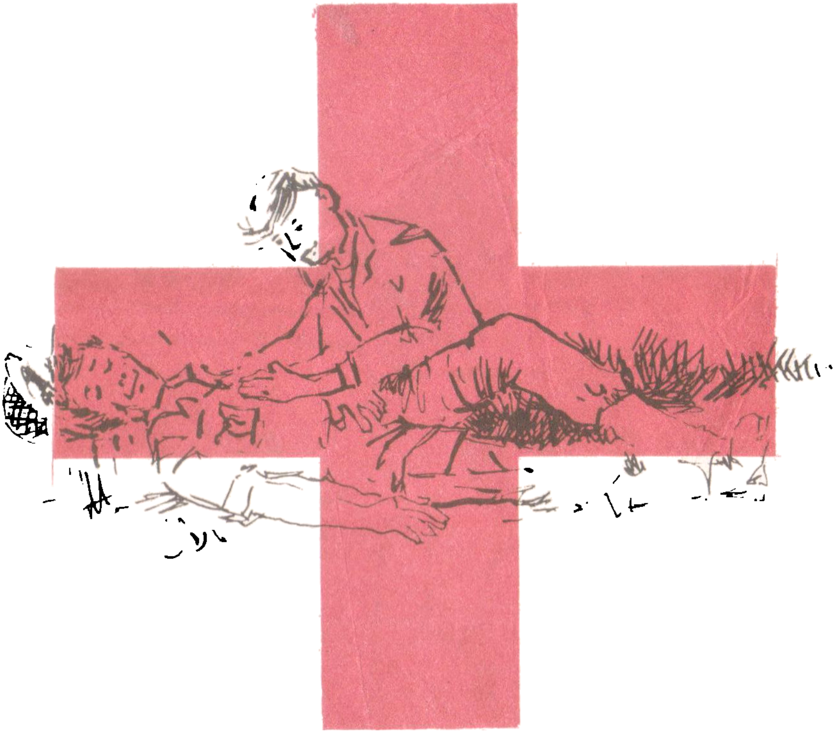

युद्ध के बीच मानवता

1864 के समझौते के बाद कई देशों ने रेड क्रास सोसायटी की स्थापना की। जिनीवा सम्मेलन की सभा के कारण युद्ध तो बंद हो नहीं गये, इस कारण इन सोसायटियों को बहुत-से काम करने थे। राज्यों में झगड़े होते ही रहते थे और युद्ध भी होते थे।

रेड क्रास का पहला बड़ा योगदान था 1870–71 में फ्रांस और प्रशिया की लड़ाई में। रेड क्रास के कार्यकर्त्ताओं ने 50,00,000 बीमारों और घायलों की देख-भाल की। हवा में फहराता हुआ लाल क्रास से अंकित सफेद झंडा हर एक के लिए, चाहे वह किसी भी जाति या देश का हो, रक्षा करनेवाली शक्ति का प्रतीक बन गया। पहले कुछ वर्षों में रेड क्रास सोसायटी का नाम था 'घायल सैनिकों की सहायता समिति'। 1867 में जब नेदरलैंड की सोसायटी का यह नाम रखा गया, सारे संगठन का नाम रेड क्रास सोसायटी पड़ गया। उसका आदर्श वाक्य बन गया 'इंटर आर्मा कर्टियस' जिसका अर्थ है 'युद्ध के बीच मानवता'।

रेड क्रास की ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। बोर युद्ध (1899-1902) के समय गाँधीजी भी इसके एक उत्साही स्वयंसेवक थे। पेंसिल से बनाया गया उनका एक चित्र भी है जिसमें वह स्ट्रेचर उठानेवाले की वर्दी पहने हैं, बाजू पर रेड क्रास की पट्टी बंधी है और सिर पर हैट है। उनकी उम्र उस समय सैंतीस वर्ष थी और दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के माने हुए नेता थे।

1907 में दूसरी जिनीवा सभा ने समुद्र पर घायल सिपाहियों की सेवा का बीड़ा भी उठा लिया। युद्ध में रेड क्रास की भूमिका और उसका महत्व बढ़ता ही गया। युद्ध ने कई नयी समस्याएं पैदा कर दीं। सिर्फ घायल ही कष्ट नहीं पा रहे थे, युद्ध के बंदियों की चिंता भी करनी थी।

रेड क्रास के जन्म के पहले युद्ध के बंदियों को बहुत सताया जाता था, कभी-कभी तो मार भी डाला जाता था। उनके परिवारों के लोग उन्हें चिट्ठी-पत्री भी नही लिख सकते थे। पत्नियाँ अपने सैनिक पतियों के समाचार जानने के लिए तड़पा करती थीं और माँएं अपने बेटों की खबर सुनने को तरसती थीं। उन्हें यह कोई बतानेवाला नहीं था कि उनके प्रियजन कैसे हैं। रेड क्रास ने यह जिम्मेदारी अपने उपर ली। तटस्थ होने के कारण युद्ध में दोनों ही पक्ष रेड क्रास को मान्यता देते थे। पहले विश्वयुद्ध के समय इसने एक सूचना केंद्र स्थापित किया और तब से लेकर आज तक युद्ध-बंदियों के बारे में सूचना देने का काम करती आ रही है।

चिंतित रिश्तेदारों से प्राप्त प्रश्नों के उत्तर देना कठिन काम था। एक आदमी का पता लगाने के लिए न जाने कितने लोगों को कितने पत्र लिखने पड़ते थे। यदि कोई सैनिक लापता हो जाता तो सूचना केंद्र के स्वयंसेवक सूचना मिलने की आशा से उसकी सेना के दस-पंद्रह अधिकारियों को पत्र लिखते। कभी-कभी निराशा हाथ लगती लेकिन प्रायः उनके पत्रों के उत्तर मिल जाते

थे और जिस सैनिक को खोया हुआ जानकर उसका पता लगने की उम्मीद छोड़ दी गयी थी, उसके बारे में कोई-न-कोई सूचना मिलती जिसे रेड क्रास के अधिकारी उसके रिश्तेदारों तक पहुँचा देते।

यह काम करनेवालों में एक व्यक्ति थे प्रसिद्ध फ़्रांसीसी लेखक रोमा रोलां जो गाँधी जी के मित्र थे। वह प्रथम महायुद्ध के समय प्रति दिन रेड क्रास के कार्यालय में जाते और क्लर्क के काम के लिए अपनी सेवाएं अर्पित करते।

संसार ने प्रथम महायुद्ध जैसा भयंकर युद्ध पहले नहीं देखा था। यह पहले की लड़ाइयों की तरह नहीं था। यद्यपि यह था तो दो-तीन देशों के बीच लेकिन इसका प्रभाव कई महाद्वीपों पर पड़ा। लाखों सैनिक इसमें लगे थे और लाखों रेड क्रास सैनिकों ने घायलों की सेवा करने के लिए दिन-रात कड़ा परिश्रम किया। लड़ाई के बाद, इन स्वयंसेवकों के काम की प्रशंसा में 1917 में रेड क्रास सोसायटी को नोबेल शांति पुरस्कार प्रदान किया गया। नोबेल पुरस्कार की स्थापना की थी आलफ़्रेड नोबेल ने जो उन्नीसवीं शताब्दी का "डाइनेमाइट किंग" (बारूद का बादशाह) कहलाता था। नोबेल एक करोड़पति था जिसने अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कर बहुत धन कमाया था। जीवन के अंतिम दिनों में उसको इस बात का बहुत पछतावा हुआ कि उसने इस तरीके से धन कमाया। पश्चाताप में उसने अपना सारा धन दान में दे डाला और शांति के लिए काम करनेवालों के लिए एक पुरस्कार की स्थापना की।

दूसरा महायुद्ध पहले से भी ज्यादा बड़ा और भीषण था। रेड क्रास ने 4,50,000 टन सामान युद्ध पीड़ितों की सहायता के लिए संग्रह किया और केवल युद्धबंदियों संबंधी सूचना सेवा में ही 1,30,00,000 डालर (रु० 10,40,00,000) खर्च किये। उसके प्रतिनिधि युद्धबंदियों के शिविरों का निरीक्षण करते और इसकी कोशिश करते कि कैदियों के साथ अच्छा व्यवहार हो और उनकी दशा में सुधार हो।

रेड क्रास की अंतर्राष्ट्रीय समिति ने 1939 में, युद्धबंदियों की केंद्रीय

एजेंसी की स्थापना की। लाखों कैदियों का अता-पता मालूम करने और उसका रिकार्ड रखने के लिए इस समिति के कर्मचारी कार्डों पर कैदी का नाम और समय-समय पर प्राप्त सारा ब्यौरा लिखते थे। रेड क्रास सहायता के लिए सामान को आगे पहुँचाता था और युद्धबंदियों की अदला-बदली में सहायता देता था।

रेड क्रास के कर्मचारी रेलवे स्टेशन के प्लेटफार्मों पर यात्री सैनिकों के लिए कैंटीन चलाते थे और युद्ध से थके-हारे लोगों के लिए मनोरंजन केंद्र खोल देते थे। जब कोई स्थिति सेना से नहीं संभाली गयी तो रेड क्रास के स्वयंसेवकों ने जाकर मदद की और वर्षों तक, दुनिया भर में, युद्ध के खत्म होने के बाद भी सहायता और पुनर्वास संबंधी काम किया।

रेड क्रास युद्ध को तो बंद नहीं कर सकेगा लेकिन जब तक युद्ध होते रहेंगे यह लोगों को याद दिलाता रहेगा कि दुश्मन भी मनुष्य है और इसी कारण उसकी इज्जत करनी चाहिए। रेड क्रास के कारण युद्ध के बीच में भी मानव-प्रेम पाया जायेगा।

संकटकालीन सहायता की पथ-प्रदर्शक: क्लारा बार्टन

1884 में अमरीका के डेंसविल नामक एक छोटे से नगर में अमरीकी रेड क्रास की संस्थापिका क्लारा बार्टन अपनी बैठक में बैठी थी।

सशक्त नैन-नक्शवाला उनका खुरदरा चेहरा भूरे रंग के घने बालों, जिसके बीच-बीच में सफेद बालों की लकीरें-सी दिख रही थीं, के चौखटे से घिरा हुआ था। वह साठ सालों का कर्मठ जीवन बिता चुकी थीं।

क्लारा बार्टन परेशान थीं। सारे समाचारपत्रों में जंगल में लगी भयानक आग की खबर छपी थी। मिशिगन के सूखाग्रस्त जंगलों और खेतों से शुरू हुई यह आग आस-पास के सारे इलाकों का सर्वनाश करती हुई कई दिनों से जल रही थी। तेज हवा के झोंकों ने आग को फैला दिया था जिसे 1,800 वर्ग मील तक का इलाका जल कर राख हो गया था। हजारों लोग घर छोड़कर भाग गये थे। पेड़ जलकर भस्म हो गये थे। आग की गरमी इतनी भयंकर थी कि पक्षी बेहोश से होकर धरती पर गिर पड़े थे, मछलियाँ नहरों में मर गयी थीं और ताप के कारण मीलों दूर के बागों में फूल अचानक समय से पहले खिल उठे थे।

क्लारा बार्टन

अपनी ढलती उम्र के बावजूद क्लारा बार्टन ने संकट में पड़े लोगों की सहायता करने का संकल्प कर लिया था। अमरीकी गृहयुद्ध के समय इससे भी ज्यादा कठिन परिस्थितियों का सामना वह कर चुकी थीं और अनुभव से उनमें आत्मविश्वास पैदा हो गया था। उन्होंने डेंसविल के अपने घर पर रेड क्रास का झंडा लगाया और संकट में सहायता की माँग का संकेत दिया। अग्निकांड से जो भयंकर सर्वनाश हुआ था उसका विस्तारपूर्वक वर्णन लिखकर अखबारों में छपवाया : "अग्नि जहाँ तक भी पहुँची वहाँ कुछ नहीं बचा। खरगोशों के खाने भर के लिए भी घास नहीं बची, और घास होती भी तो उसे खाने के लिए खरगोश नहीं बचे थे।"

इस मर्मस्पर्शी वर्णन ने लोगों पर बहुत प्रभाव डाला और अग्निकांड से पीड़ितों की सहायता के लिए आनेवाली दान राशि की बाढ़-सी आ गयी। कपड़े, भोजन की चीजें और दवाइयों की वर्षा-सी होने लगीं। अग्निकांड से बचे लोगों को जो बिल्कुल घबरा गये थे, भोजन और आश्रय दिया गया। उसके टूटे घरों की मरम्मत करने या नये घर बनाने के लिए लकड़ियाँ और औजार वगैरह आने लगे।

अभी लोग अग्निकांड को भूले भी नहीं थे कि बाढ़ आ गयी। पिघलती हुई बर्फ से ओहियो नदी में पानी बढ़ आया और नदी के किनारों को तोड़कर पार कर गया। जब क्लारा बार्टन सिनसिनाटी में पहुँची तो देखा कि सारा शहर पानी में तैर-सा रहा है। शहर के लोग मकानों की छतों पर असहाय बैठे थे। अभी भी बराबर पानी बरस रहा था। जैसे इतना काफी नहीं था, ऊपर से तूफान भी आ गया। मकान और पेड़ गिर गये, कपास और गन्ने के लाखों एकड़ के खेत बर्बाद हो गये। मकान पानी में इस प्रकार तैर रहे थे मानो भूत के-से जहाज हों। पानी की गरजती हुई तेज धारा में इंसान और जानवर बह गये।

क्लारा बार्टन ने तुरंत एक जहाज ठीक करवाया। जहाज का नाम था

"जोश वी. थ्रूप"। कुछेक मर्दों और औरतों को सहायता के लिए साथ लेकर और ढेर सारा कोयला और कपड़े लेकर, वह सहायता कार्य के लिए निकल पड़ीं। जोश वी. थ्रूप अमरीकी जलमार्ग पर, सहायता के काम पर जानेवाला रेड क्रास का पहला जहाज था।

नदी के रास्ते एक गाँव से दूसरे गाँव को जाते हुए जहाँ कहीं भी कुछ लोगों का समूह दिखायी देता, वहाँ ईंधन और दूसरी जरूरी चीजें उतार दी जातीं। जहाज जहाँ-जहाँ रुकता, क्लारा कुछ लोगों को जहाज पर बुला लेतीं, उनकी जरूरतों के बारे में पूछतीं और उसका तखमीना बनातीं। रसद लेने और उसको बाँटने के लिए हर जगह एक समिति बना देतीं और जितने रसद की उन्हें जरूरत होती, उन्हें दे देतीं। फिर वह शीघ्र ही वहाँ से चल देतीं। लोग चकित होकर उनकी ओर देखते ही रह जाते और सोचते कि वह कौन है और लाल क्रास का झंडा किसका प्रतीक है।

अमरीका में रेड क्रास की स्थापना करनेवाली क्लारा बार्टन न्यू इंग्लैंड के एक स्कूल में अध्यापिका थीं और अमरीका में गृहयुद्ध के जमाने में अपनी इच्छा से स्वयंसेविका बन गयी थीं। उनका इतना नाम हो गया कि लोग उन्हें 'दया की देवी' कहने लगे। फिर वह यूरोप गयीं और वहाँ भी पीड़ितों की सहायता के लिए बहुत काम किया। वह अमरीका वापस गयीं, दृढ़ निश्चय करके कि जिनेवा सम्मेलन के लिए सरकार की स्वीकृति और रेड क्रास आंदोलन के लिए उसका समर्थन लेकर ही रहेंगी। उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप अमरीकी सरकार ने 1882 के जिनीवा सम्मेलन की शर्तें मान लीं। वह अमरीकी रेड क्रास की पहली अध्यक्षा बनीं।

हेनरी दूनाँ ने उसी प्रकार के सहायता कार्य का प्रस्ताव किया था जैसा क्लारा कर रही थीं। लेकिन जब तक क्लारा के घर के ऊपर फहरानेवाला रेड क्रास का झंडा संकट में सहायता का संकेत नहीं बना, रेड क्रास केवल युद्ध पीड़ितों की ही मदद करता था। पहले-पहल क्लारा ने ही समझा

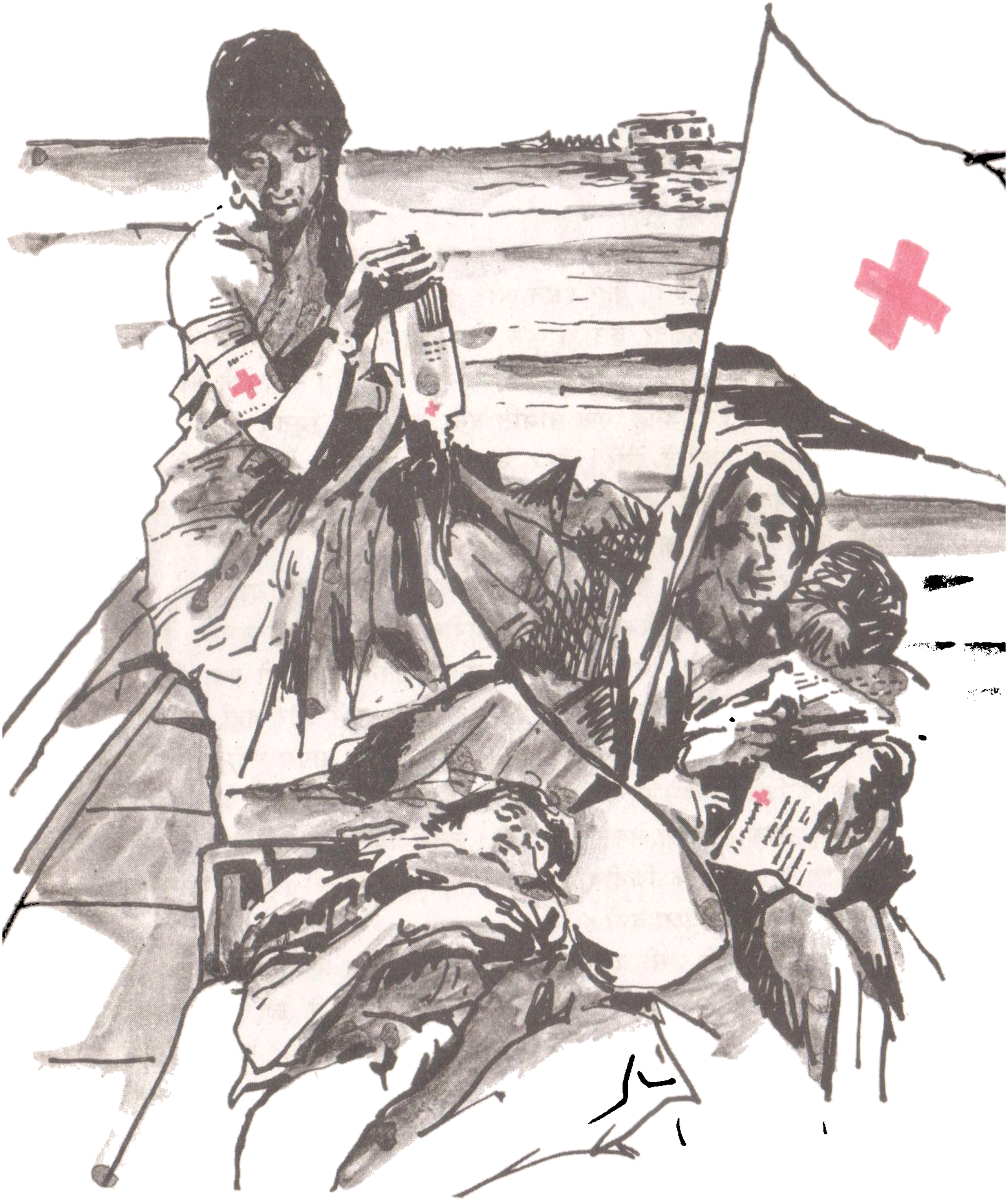

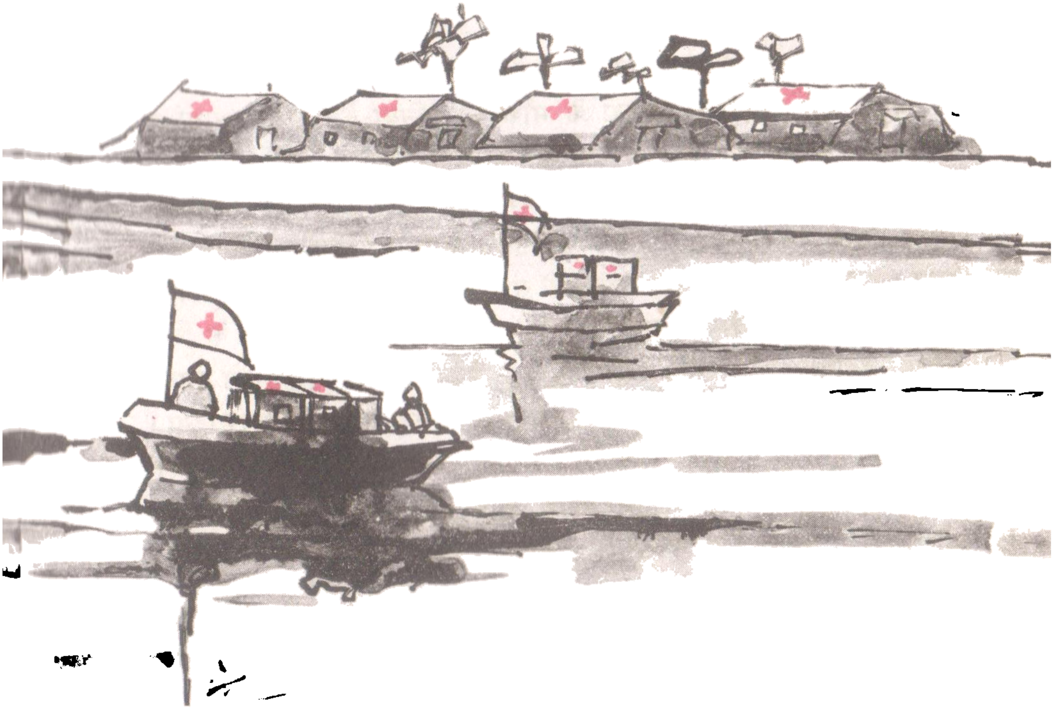

कि कभी-कभी प्राकृतिक दुर्घटनाओं जैसे बाढ़, प्लेग आदि द्वारा पीड़ित लोगों की संख्या युद्धपीड़ितों की संख्या से भी अधिक होती है। उन्हें भी सहायता की बहुत जरूरत होती है। क्लारा ने अमरीका में और दूसरे स्थानों पर रेड क्रास दलों को प्रेरित किया कि विभिन्न प्रकार की शांतिकालीन सहायता का काम भी हाथ में लें।

क्लारा बार्टन के उदाहरण के कारण रेड क्रास के कार्यकर्त्ता हमेशा प्राकृतिक दुर्घटनाओं, महामारी या घरों के गिर जाने की खोज-खबर रखते हैं। खाने

का सामान व दवाइयाँ लेकर वह सहायता देनेवालों में सबसे आगे रहते हैं।

बहुत बड़ी प्राकृतिक दुर्घटना के मौके पर दुनिया के विभिन्न भागों में रेड क्रास समितियाँ एक दूसरे से सहायता की माँग करती हैं क्योंकि रेड क्रास एक बड़े परिवार की तरह है। 114 देशों की राष्ट्रीय रेडक्रास समितियाँ उसकी सदस्य हैं। 1974 में उसके 23,00,00,000 सदस्य थे। जब किसी स्थान की रेड क्रास समिति से स्थिति नहीं संभलती थी तो वे एक दूसरे की मदद करते थे। उन्होंने क्षेत्रीय अस्पताल और शिविर बनाये, विस्थापितों के लिए बस्तियाँ बनायीं और करोड़ों शरणार्थियों को टीके लगवाये। 1971 में बंगला देश को उन्होंने 30,00,00,000 रुपयों का सामान सहायता की तौर पर दिया।

हेनरी दूनाँ ने कहा था, "मैं ऐसा संगठन चाहता हूँ जो न इंग्लैंड तक सीमित रहे, न किसी एक देश तक, बल्कि जो दुनिया के किसी भी हिस्से में हो रही लड़ाई में पहुँचकर काम करे।" उसकी इच्छा पूरी हो गयी।

भारतीय रेड क्रास

रेड क्रास की भावना भारत में आदि काल से रही है। गौतम बुद्ध ने और उनके पहले तथा बाद में कई संतों ने दया और करुणा का उपदेश दिया था। इनमें से एक थे गुरु गोविंदसिंह, सिखों के अंतिम गुरु।

कहते हैं कि एक लड़ाई में जिसमें गुरु ने अपने शिष्यों को लड़ने का आदेश दिया था, बहुत से आदमी मारे गये या घायल होकर गिर पड़े। भाई कन्हैया नाम का एक मामूली भिश्ती लड़ाई के मैदान में घूम-घूम कर दोनों ओर के घायलों को पानी पिलाता रहा।

"क्या कर रहे हो?" गुरु ने पूछा।

"मैं आपके उपदेश का पालन कर रहा हूँ," भाई कन्हैया ने उत्तर दिया। "आपने कहा था कि आप बुराई के खिलाफ लड़ रहे हैं, किसी व्यक्ति के खिलाफ नहीं।"

"ठीक कहते हो," गुरु ने कहा। "मनुष्य सब जगह एक ही है। तुम घायलों को पानी पिला रहे हो, उनके घावों की मरहम-पट्टी भी करो।"

यह सत्रहवीं शताब्दी की बात है। अब न गोविंदसिंह रहे न भाई कन्हैया,

लेकिन उन्होंने एक ज्योति जला दी, एक आदर्श सामने रखा। मंदिर व खैराती संस्थाएं गरीबों के लिए, चाहे वे जिस जाति या धर्म के हों, अस्पताल खोलने के लिए रुपया देने लगीं। अमीरों ने थकेमाँदे मुसाफिरों के लिए पियाऊ खोले और गरीब बच्चों के लिए आश्रम।

भारत में रेड क्रास ने 1920 में काम शुरू किया जब भारतीय विधान सभा के एक अधिनियम के द्वारा भारतीय रेड क्रास समिति की स्थापना की गयी। 1914 का युद्ध अभी-अभी खत्म हुआ था। घायलों और बीमार सैनिकों

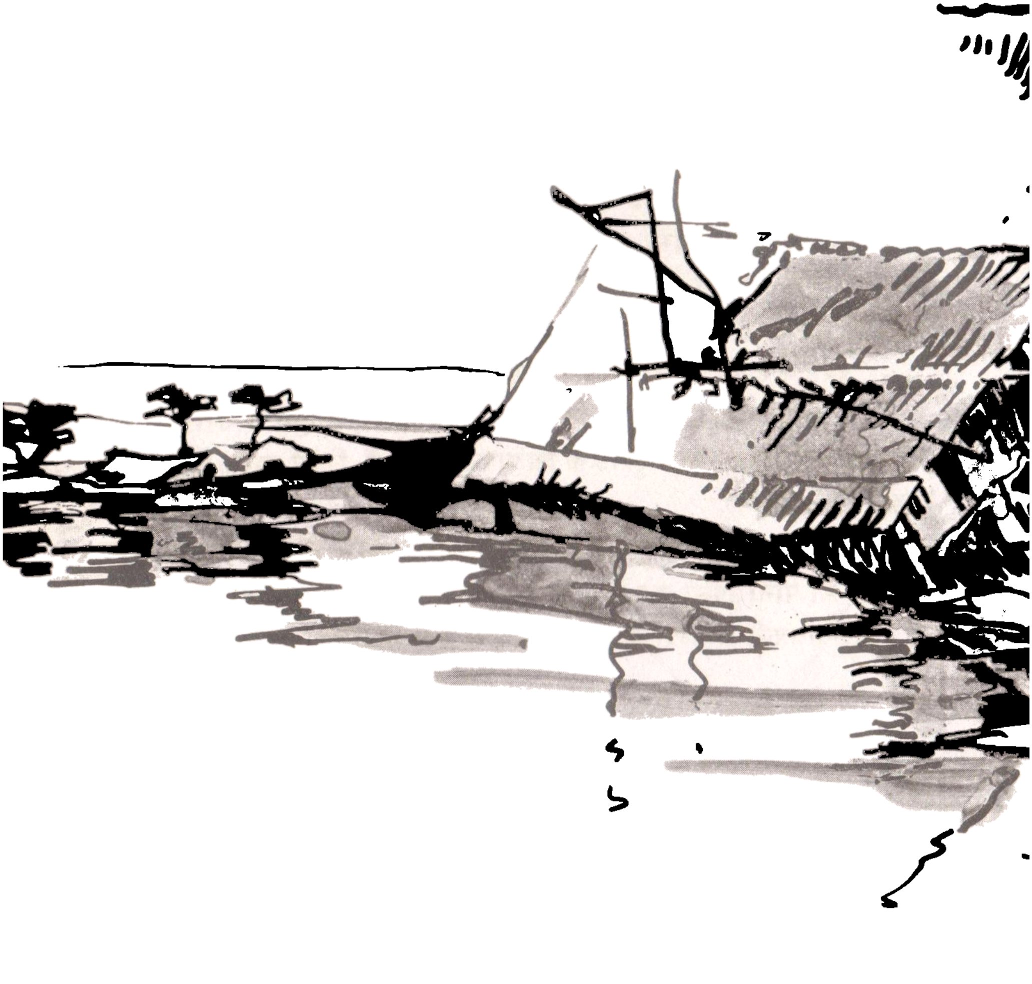

की संख्या बहुत बड़ी थी, और उनकी सहायता करने के लिए स्वयंसेवकों की आवश्यकता थी।

आजादी के पहले, रेड क्रास की स्थापना के सात वर्ष बाद, पहली बार काम करने के लिए उसकी पुकार हुई। जब 1927 में पंजाब में बाढ़ आयी और रेड क्रास ने बाढ़ से पीड़ित लोगों को रुपये भेजे।

पचास वर्ष पहले इस छोटे-से आरंभ के बाद रेड क्रास ने गहरी जड़ पकड़

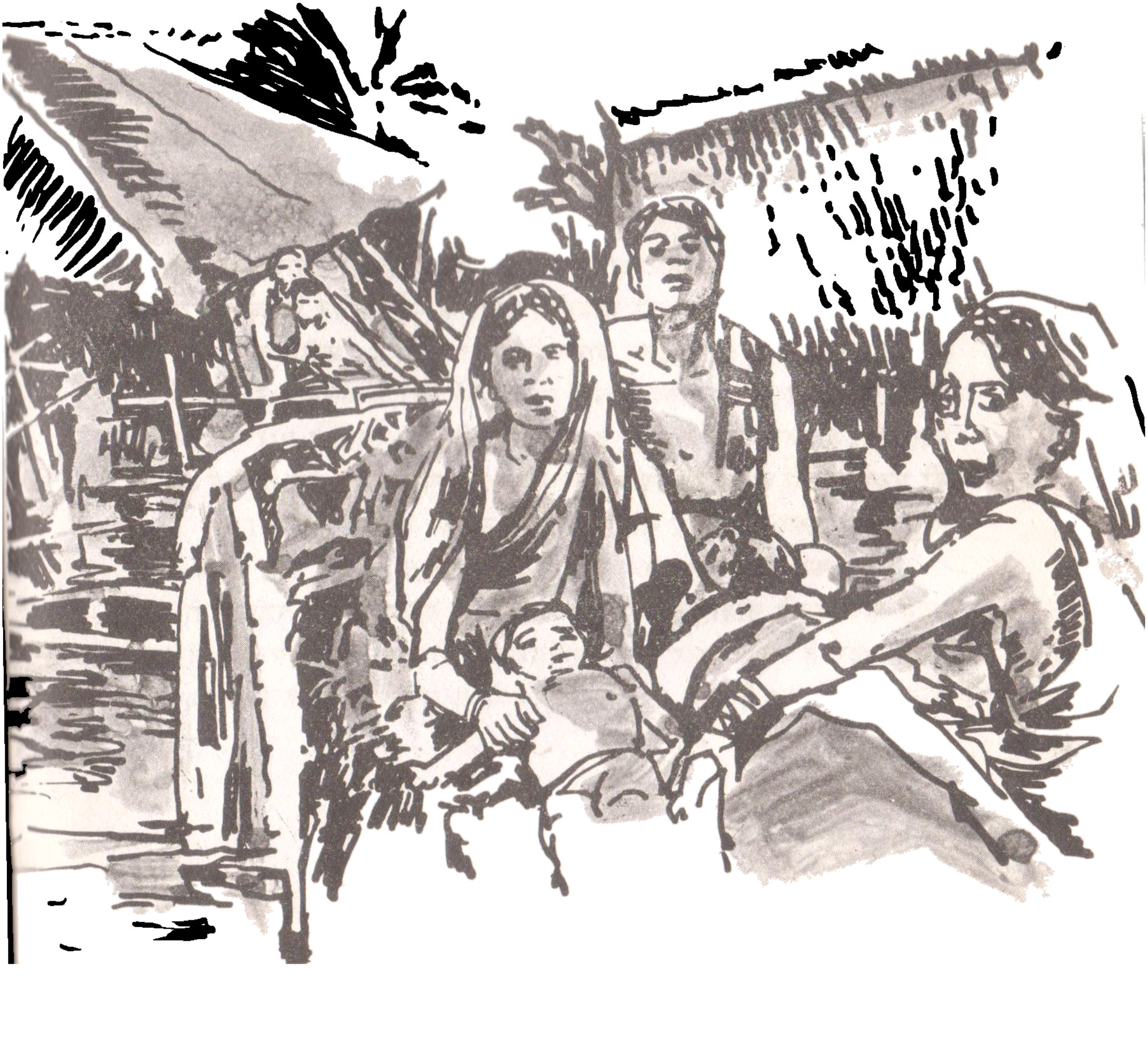

ली और बरगद की तरह उसका विस्तार देश भर में हुआ। आज वह एक बहुत बड़ा सहायता संगठन है जिसकी 500 शाखाएं और उपशाखाएं हैं।

रेड क्रास सोसायटी का मुख्य कार्यालय नयी दिल्ली में रेड क्रास रोड पर है जिसके अहाते में गड़े खंभों से रेड क्रास का झंडा फहराता रहता है। सब राज्यों की राजधानियों में इसकी शाखाएं हैं और लाल चटख रंग के क्रासवाले सफेद झंडे सारी शाखाओं की इमारतों पर फहराते हैं।

इमारतों के अंदर कई अलग-अलग विभाग हैं। एक बस कंडक्टरों को प्राथमिक चिकित्सा की ट्रेनिंग दी जाती है, दूसरे विभाग में जो लोग दुर्घटना में हाथ या पैर गँवा बैठे हैं वे नकली हाथ-पैर के लिए अपने नाम दर्ज करवाते हैं। एक और विभाग में गरीबों को कपड़े और विटामिन की गोलियां दी जाती हैं।

रेड क्रास के कार्यालय में हमेशा काम की चहल-पहल रहती है, टेलिफोन हमेशा व्यस्त रहते हैं। घंटी बजती है, एक आवाज़ कहती है कि किसी मरीज़ की हालत बहुत चिंताजनक हो गयी है, उसको फौरन अस्पताल ले जाना है, एंब्यूलेंस गाड़ी चाहिए। एंब्यूलेंस अधिकारी पता नोट करता है और आश्वासन देता है कि गाड़ी तुरंत रवाना कर दी जायेगी। गाड़ी के पहुँचने पर पिछला दरवाजा खोल दिया जाता है और स्ट्रेचर बाहर निकाला जाता है। मरीज़ को सावधानी से उस पर लिटा दिया जाता है और स्ट्रेचर को फिर एंब्यूलेंस पर चढ़ा दिया जाता है। ड्राइवर गाड़ी के ऊपर लगी लाल बत्ती को जलाता है और गाड़ी शहर की मुख्य सड़कों पर भीड़-भाड़ को चीरती हुई अस्पताल की ओर तेजी से बढ़ती जाती है। रास्ते की और सारी गाड़ियां उसको रास्ता देती हैं।

सवेरे का चक्कर लगाकर जब एंब्युलेंस लौटता है तो उसी समय रक्त संग्रह करनेवाली गाड़ी रेड क्रास के अहाते से बाहर निकल रही होती है। उसके अंदर हैं एक डाक्टर, एक टेकनीशियन और एक समाजसेवक। ये एक कालेज में जा रहे हैं जहां बहुत से लड़कियों ने उन रोगियों के लिए जिनको

खून की जरूरत है, अपना खून देने की इच्छा प्रकट की है। अस्पताल में रोगियों को देने के लिए बहुत से खून की आवश्यकता होती है और रक्त का दान किसी को मौत के मुंह से बचा सकता है।

अब दो आदमी बैसाखियों के सहारे इमारत के अंदर प्रवेश करते हैं। एक नौजवान ग्वाला है, दूसरा मेकानिक है। चलती हुई गाड़ी में चढ़ने की कोशिश में उनके पाँव फिसल गये थे और उनके पैर काटने पड़े। डाक्टर ने उनको नकली टाँगे बनवाने की सलाह दी जिससे कि वे फिर से चलने-फिरने लगें। लेकिन नकली हाथ-पैर बनवाना बहुत महँगा पड़ता है। एक बेचारा ग्वाला या मेकानिक उसके लिए पैसा कहाँ से जुटा सकता है? उनको पता चला कि रेड क्रास नकली हाथ-पैर बनवाने में रुपये-पैसे से मदद करता है। इस कारण वे यहाँ पर मदद माँगने आये। कई महीने बाद, बिल्कुल नयी टाँगों के सहारे से, वे यहाँ कार्यालय में वापस आये हैं अपनी तस्वीर खिचवाने। फोटो खिचवाते समय वे मुस्कराते हैं क्योंकि वह फिर अपना भार आप संभालने काबिल हो गये हैं और उन्हें काम भी मिल गया है।

पाकिस्तान से लड़ाई के समय रेड क्रास के कार्यालय में साधारण से अधिक काम-काज की चहल-पहल रहती थी। दुर्घटना में घायल लोगों को एंब्युलेंस गाड़ियाँ अस्पताल ले जाती थीं, हाथ-पैर कटवाने के बाद मरीज लंगड़ाते हुए अंदर-बाहर आते-जाते रहते थे, रक्तसंग्रह करनेवाला दल रक्त संग्रह करने के लिए निकल पड़ता था और इसके अलावा, सैंकड़ों लोग प्राथमिक और घरेलू चिकित्सा का प्रशिक्षण लेने आते थे।

उन दिनों सैंकड़ों स्त्रियाँ और बच्चे इस इमारत में काम करते थे। वे युद्ध बंदियों के लिए मिठाइयाँ और भेंट की अन्य वस्तुएं थैलों में भरते। भेंट की ये वस्तुएं उन पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों ने भेजी थीं जो युद्ध में लड़ रहे सैनिकों के लिए अपनी शौक की कुछ चीजों का त्यार्ग करना चाहते थे। लड़के और लड़कियाँ, बिना थके हुए, गोदाम से पैंकिगवाले कमरे तक और

पैकिंगवाले कमरे मे ट्रकों तक पार्सल ढो-ढो कर लाते थे।

और 22 फरवरी, 1972 को कुछ ऐसे पार्सल भारतीय रेड क्रास की टीम द्वारा वागा सीमा पर ले जाये गये। उधर पाकिस्तान का रेड क्रास दल सौगात के पार्सल लेकर आया। सीमा पर रेड क्रास की अंतर्राष्ट्रीय समिति के स्विस सदस्यों के सामने पार्सलों का आदान-प्रदान हुआ। भारतीय रेड क्रास दल ने पकिस्तान में भातीय युद्ध बंदियों के लिए पार्सल और डाक दिये और पाकिस्तानी रेड क्रास दल ने भारत में पाकिस्तानी युद्ध बंदियों के लिए पार्सल और डाक दिये।

लेकिन भारतीय रेड क्रास को सबसे बड़ी चुनौती का सामना करना पड़ा 1971–72 में जब पूर्वी बंगाल से लगभग एक करोड़ शरणार्थी भारत आये। कमजोर माताओं और बच्चों के लिए एक हजार से भी अधिक केंद्र खोले गये। 57 चिकित्सा केंद्र शरणार्थियों को सहायता के लिए थे। ढेरों बिस्कुट, दवाइयाँ, बच्चों के लिए दूध के डिब्बे और कंबल बाँटे गये थे। संसार भर में फैली रेड क्रास समितियों ने सहायता की पुकार का उत्तर उदारता से दिया।

ये शरणार्थी अब अपने बांगला देश वापस चले गये हैं, लेकिन प्रकृति और मनुष्य द्वारा घटायी दुर्घटना का कभी अंत नहीं होता। नयी चुनौतियाँ हमेशा सामने आती रहती हैं। अभाव और कष्ट के विरुद्ध यह कभी न समाप्त होने-वाला युद्ध है और इस कारण रेड क्रास की हमेशा मांग रहती है।

जूनियर रेड क्रास

जिस प्रकार हेनरी दूनाँ बचपन में जिनीवा के अनाथालयों के लिए किये जानेवाले अपनी माँ के कामों में दिलचस्पी लेता था, उसी तरह दुनिया भर के बच्चे भी अपने माता-पिता द्वारा रेड क्रास के लिए किये गये कामों का अनुकरण करना चाहते थे।

उनकी इस इच्छा का लाभ उठाकर क्लारा बार्टन ने युवा लोगों का एक दल बनाया जो उन्हें उनके कामों में सहायता देता था। क्योंकि उन्हें एक बार बताया गया था कि उन्हें दौड़ने-भागने, आने-जाने, संग्रह करने आदि के लिए 'टाँगों' की जरूरत पड़ेगी और जैसे-जैसे समय बीतता गया, क्लारा को लगा कि यह कितनी सच बात है। वह मार्गदर्शन कर सकती थीं, निर्देश दे सकती थीं, लेकिन काम करने के लिए ताकतवर और उत्साही नौजवानों की आवश्यकता थी।

मार्च 1884 में वाटरफोर्ड पेनिसिलवेनिया में बाढ़ आयी तो छः लड़के-लड़कियों ने बाढ़ पीड़ितों के लिए रुपया इकट्ठा करने के लिए मनोरंजन का एक कार्यक्रम पेश किया। उन्होंने क्लारा बार्टन को रुपयों के साथ एक पत्र भेजा जिसमें कार्यक्रम का वर्णन करते हुए लिखा था कि "इन रुपयों को वहाँ

इस्तेमाल कीजिये जहाँ इसका सबसे अच्छा उपयोग हो।" पत्र के नीचे हस्ताक्षर थे : "द लिटिल सिक्स (छः छोटे)—जो फ़रार, 12 वर्ष; फ्लोरेंस हो, 11 वर्ष; मेरी बार्टन, 11 वर्ष; रीड ह्वाइट, 11 वर्ष; बर्टी एंसवर्थ, 10 वर्ष; लायड बार्टन, 7 वर्ष।" क्लारा बार्टन का दिल भर आया। उन्होंने तय किया कि इस मूल्यवान उपहार का वह अच्छे से अच्छा उपयोग करेंगी।

एक मास बाद जोश वी. थ्रूप के रास्ते में एक लंबी दुबली स्त्री एक छोटी लड़की के साथ केव-इन-राक नदी के किनारे एक एकांत स्थान पर खड़ी थी। यह श्रीमती प्लू थीं जिसका पति एक नाविक था और इससे पहले की एक बाढ़ में मारा गया था। वह छः बच्चे छोड़ गया था। सबसे बड़ा पंद्रह वर्ष का था और सबसे छोटा तीन वर्ष का। दो घोड़ों, तीन गायों, कुछ मुर्गियों और कुछ सूअरों की बदौलत वह किसी प्रकार जी रहे थे, लेकिन बाद में गायें, घोड़े और कुछ सूअर मर गये थे। फिर तूफ़ान आया और उनका घर टूट-फूट गया। प्लू परिवार बची-खुची मुर्गियों को लेकर एक पुरानी लकड़ी की कोठरी में चला गया। परिवार जिंदा रहने के लिए दृढ़ संकल्प था।

छः बच्चे! श्रीमती बार्टन ने सोचा और उन्हें 'द लिटिल सिक्स' का ध्यान हो आया। उन्होंने श्रीमती प्लू को वाटरफोर्ड बच्चों द्वारा भेजी गयी भेंट के बारे में बताया और यह भी कहा कि उनके भेजे 51 डालर में, रेड क्रास के पैसों से बाकी मिलाकर पूरे 100 डालर कर देंगी।

उन पैसों से श्रीमती प्लू और उनके बच्चों ने नया घर बना लिया। उन्होंने उस घर का नाम "द लिटिल सिक्स" रखा और वर्षों तक नदी पर नावों में जाते हुए लोग देख सकते थे कि ऊँचे किनारे पर जहाँ प्लू परिवार रहता था, तख़्ती पर रंग से लिखा हुआ था "द लिटिल सिक्स—रेड क्रास लैंडिंग (घाट)"।

जल्दी ही रेड क्रास के अधिकारी अनुभव करने लगे कि किशोर किशोरियों को औपचारिक रूप से रेड क्रास आंदोलन में शामिल करना चाहिए। तो रेड क्रास की किशोर शाखा, या 'जूनियर रेड क्रास' की स्थापना 1922 में हुई

थी—हमारी अपनी रेड क्रास समिति की स्थापना के दो वर्ष बाद। उसका उद्देश्य था स्वास्थ्य, जीवन और अंतर्राष्ट्रीय मैत्री को बढ़ाना। वह इसका भी प्रयत्न करेगा कि किशोर दूसरे इंसानों और अपने समाज के प्रति कर्त्तव्यों को समझें और उन्हें स्वीकार करें।

और आज सारे भारत में हजारों किशोर-किशोरियाँ जूनियर रेड क्रास की शपथ लेते हैं—

मैं शपथ लेता हूँ कि मैं अपने और दूसरों के स्वास्थ्य की देखभाल करूँगा, बीमारों और मुसीबत में पड़े लोगों की सहायता करूँगा, खासकर बच्चों की और दुनिया के तमाम बच्चों को अपने दोस्त समझूंगा।

इस शपथ की भावना से दिल्ली के किशोर अपने ग्रीष्मकालीन अवकाश शिविर के दौरान आस-पास के गाँवों में सड़कें बनाते हैं, सफाई अभियान आयोजित करते हैं, रोड़ों को डालने के लिए गड्ढे खोदते हैं और गाँव की सड़कें साफ करते हैं। इसी भावना से पंजाब के किशोर गरीब विद्यार्थियों की मदद के लिए रुपए इकट्ठे करते हैं और चंडीगढ़ के निकट 'साकेत' नामक विकलाँग बच्चों के अस्पताल की सहायता करते हैं।

किशोरों द्वारा किये गये काम का एक बहुत बढ़िया उदाहरण प्रस्तुत किया है आस्ट्रेलियन रेड क्रास यूथ ने। वियतनाम में हुई बहुत लंबी और भयंकर लड़ाई के कारण हजारों बच्चे बेघर और अनाथ हो गये थे। आस्ट्रेलिया के किशोर धन इकट्ठा करते हैं जिससे कान-थो अनाथालय, जो दो से चौदह वर्ष तक के बच्चों के लिए है, को चलाने में मदद मिलती है।

इस तरह से दुनिया भर में रेड क्रास के कार्यकर्त्ता बच्चों की देखभाल करते हैं जो अक्सर उन्हीं की उम्र के होते हैं, लेकिन उनकी हालत उनके जैसी अच्छी नहीं होती।

रेड क्राम जूनियर यह समझते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय मतभेद कितने बेमानी

हैं। वे इस बात पर जोर देते हैं कि मनुष्य सब एक से ही होते हैं। वे विभिन्न देशों के बारे में भाषण, फिल्म आदि की व्यवस्था करते हैं और दूसरे देशों के रेड क्रास जूनियर के साथ फोटो-अल्बम का आदान-प्रदान करते हैं। कभी-कभी हमारे किशोर देश के बाहर भी जाते हैं और बाहर के देशों से किशोर अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन गोष्ठी में भाग लेने के लिए भारत आते हैं। उनमें पक्की दोस्ती हो जाती है, दुनिया सिमट कर करीब आ जाती है और दूनों के आदर्श आगे बढ़ते हैं।

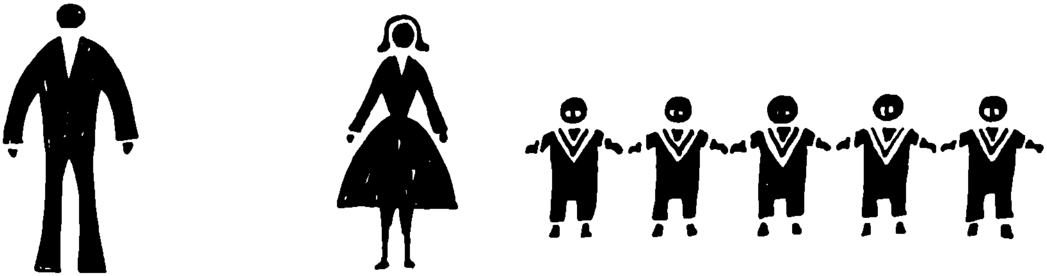

दूनाँ की मृत्यु

एक बार एक नौजवान पत्रकार ने, जो स्विट्जरलैंड के गाँव हीडेन में छुट्टी बिता रहा था, सफेद बालोंवाले एक खूबसूरत वृद्ध को देखा और वह उनके बारे में पूछताछ करने लगा। उसको पता चला कि वह वृद्ध और कोई नहीं; स्वयं हेनरी दूनाँ हैं, रेड क्रास के संस्थापक। पत्रकार ने प्रसन्न होकर समाचार-पत्रों को अपनी खोज की सूचना दी और दुनिया के लोगों ने जाना कि जिस व्यक्ति को उन्होंने अरसे से मृत समझ रखा था वह जीवित है, लेकिन गरीबी में जी रहा है।

तीस वर्ष तक दूनाँ बिल्कुल अज्ञातवास में रहा। रेड क्रास की स्थापना के बाद दूनाँ, जिसने अपना सारा समय और धन उसमें लगा दिया था, एकदम गरीब हो गया। व्यापार जिसकी उसने बिल्कुल उपेक्षा कर रखी थी, एकदम ठप्प हो गया और 1867 तक वह दीवालिया हो गया। वह यह नहीं चाहता था कि उसके दुर्भाग्य से उस काम को कोई हानि पहुँचे जो उसे इतना प्यारा था, इस कारण उसने समिति से त्यागपत्र दे दिया। समिति में योग्य और मेहनती लोग थे जो उसके बिना भी काम करते रहे। उन्होंने उसके स्वप्न को सच बताया और दुनिया दूनाँ को भूल गयी।

हेनरी दूनां

समाचार पत्रों में दूनाँ के मिलने की खबर छपी तो उस पर पत्रों, धन तथा सहायता की बौछार सी होने लगी। उसने कुछ भी लेने से इंकार कर दिया। वह सादे जीवन का आदी हो गया था। नाम और यश उसके निकट कोई महत्व नहीं रखते थे।

लेकिन वह यश से बच नहीं सका। 1901 में नोबेल शांति पुरस्कार उसको और फ़्रांसीसी संगठन के जन्मदाता फ़ेड्रिक पासी दोनों को दिया गया। दूनाँ ने पुरस्कार की राशि उस काम के लिए दे दी जो उसे सबसे ज्यादा प्रिय था। वह पहले की तरह रहता और मृत्यु तक उसने हीडेन का शांतिपूर्ण एकांतवास नहीं छोड़ा।

दूनाँ की मृत्यु 1910 में, जूनियर रेड क्रास के जन्म से बारह वर्ष पूर्व हुई अपना यह सबसे बड़ा स्मारक देखने के लिए वह जीवित नहीं रहा। यह देखने के लिए अवश्य जीवित रहा कि जिस आंदोलन को उसने चलाया था वह किस तरह सारी दुनिया में फैल गया।

आज दूनाँ के आदर्श ने दुनिया भर के लाखों लोगों को एकता के सूत्र में बाँध रखा है। रेड क्रास मानव के इतिहास में एक अनोखी बिरादरी है।

प्रति वर्ष 8 मई को दुनिया दूनाँ को याद करती है। रेड क्रास के संस्थापक के जन्मदिवस की याद में विश्व रेड क्रास दिवस मनाया जाता है। दुनिया के विभिन्न भागों में सदस्य इकट्ठे होते हैं और दूनाँ के काम को आगे बढ़ाने की प्रतिज्ञा करते हैं। रेड क्रास का झंडा हवा में फहराता हुआ कहता है, "सभी मनुष्य भाई-भाई हैं।"

बाबा प्रिन्ट आर्टस प्राइवेट लिमिटेड, मंगोल पुरी इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली–83 द्वारा मुद्रित

एकः सूते सकलम्

रु. **10.00** ISBN 81-237-0186-1

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया